३७

कर्मविपाक और आत्म-स्वातंत्र्य

□ लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक

कर्म चाहे भला हो या बुरा, परन्तु उसका फल भोगने के लिये मनुष्य को एक न एक जन्म लेकर हमेशा तैयार रहना चाहिये। कर्म अनादि है, और उसके अखण्ड व्यापार में परमेश्वर भी हस्तक्षेप नहीं करता। सब कर्मों को छोड़ देना संभव नहीं है, और मीमांसकों के कथनानुसार कुछ कर्मों को करने से और कुछ कर्मों को छोड़ देने से भी कर्मबन्धन से छुटकारा नहीं मिल सकता—इत्यादि बातों के सिद्ध हो जाने पर यह पहला प्रश्न फिर भी उत्पन्न होता है कि कर्मात्मक नाम रूप के विनाशी चक्र से छूट जाने एवं उसके मूल में रहने वाले अमृत तथा अविनाशी तत्त्व में मिल जाने की मनुष्य को जो स्वाभाविक इच्छा होती है, उसकी तृप्ति करने का कौनसा मार्ग है ? वेद और स्मृति ग्रन्थों में यज्ञयाग आदि पारलौकिक कल्याण के अनेक साधनों का वर्णन है, परन्तु मोक्षशास्त्र की दृष्टि से ये सब कनिष्ठ श्रेणी के हैं। क्योंकि यज्ञयाग आदि पुण्यकर्मों के द्वारा स्वर्ग प्राप्ति हो जाती है, परन्तु जब उन पुण्य-कर्मों के फलों का अन्त हो जाता है तब चाहे दीर्घकाल में ही क्यों न हो—कभी न कभी इस कर्मभूमि में फिर लौट कर आना ही पड़ता है।[1] इससे स्पष्ट हो जाता है कि कर्म के पंजे से बिलकुल छूटकर अमृतत्व में मिल जाने का और जन्म-मरण की झंझट को सदा के लिए दूर कर देने का यह सच्चा मार्ग नहीं है। इस झंझट को सदा के लिए दूर करने का अर्थात् मोक्ष प्राप्ति का अध्यात्म शास्त्र के कथनानुसार "ज्ञान" ही एक सच्चा मार्ग है। "ज्ञान" शब्द का अर्थ व्यवहार ज्ञान या नाम रूपात्मक सृष्टि-शास्त्र का ज्ञान नहीं है, किन्तु यहाँ उसका अर्थ ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान है। इसी को "विद्या" भी कहते हैं। "कर्मणा बध्यते जन्तुः विद्यया तु प्रमुचयते"—कर्म से ही प्राणी बांधा जाता है, और विद्या से उसका छुटकारा होता है—यह जो वचन दिया गया है, उसमें "विद्या" का अर्थ "ज्ञान" ही विवक्षित है। गीता में भगवान ने अर्जुन से कहा है कि—'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेअर्जुन।' अर्थात् ज्ञान रूप अग्नि से सब कर्म भस्म हो जाते हैं [गीता ४,३७]। और 'महाभारत' में भी कहा गया है कि—

> बीजान्यग्न्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः
> ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा सम्यद्यते पुनः ॥[2]

१—महाभारत, वनपर्व २५९–६०, गीता ८.२५, ९.२०

२—महाभारत, वनपर्व १८९–१०६–७।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् भुना हुआ बीज जैसे उग नहीं सकता, वैसे ही जब ज्ञान से (कर्म के) क्लेश दग्ध हो जाते हैं, तब वे आत्मा को पुनः प्राप्त नहीं होते। उपनिषदों में भी इसी प्रकार ज्ञान की महत्ता बतलाने वाले अनेक वचन हैं जैसे—"य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति।[1] जो यह जानता है कि मैं ही ब्रह्म हूँ, वही अमृत ब्रह्म होता है। जिस प्रकार कमल पत्र में पानी चिपक नहीं सकता, उसी प्रकार जिसे ब्रह्मज्ञान हो गया है, उसे कर्म दूषित नहीं कर सकते।[2] ब्रह्म जानने वाले को मोक्ष मिलता है। जिसे यह मालूम हो चुका है कि सब कुछ आत्ममय है, उसे पाप नहीं लग सकता। 'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः'[3] परमेश्वर का ज्ञान होने पर सब पापों से मुक्त हो जाता है। "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे" (मु. २.२.८) परब्रह्म का ज्ञान होने पर सब कर्मों का क्षय हो जाता है। 'विद्ययामृतमश्नुते'[4] विद्या से अमृतत्व मिलता है। "तमेव विदित्वावुति-मृत्युमेति नान्यःपन्था विद्यतेऽयनाय" (श्वे. ३.८) परमेश्वर को जान लेने से अमरत्व मिलता है, इसको छोड़ मोक्ष प्राप्ति का दूसरा मार्ग नहीं है और शास्त्र दृष्टि से विचार करने पर भी यही सिद्धान्त दृढ़ होता है। क्योंकि दृश्य सृष्टि में जो कुछ है, वह सब यद्यपि कर्ममय है, तथापि इस सृष्टि के आधारभूत परब्रह्म की ही वह सब लीला है, इसलिए यह स्पष्ट है कि कोई भी कर्म परब्रह्म को बाधा नहीं दे सकते—अर्थात् सब कर्मों को करके भी परब्रह्म अलिप्त ही रहता है।

अध्यात्मशास्त्र के अनुसार इस संसार के सब पदार्थों के कर्म (माया) और ब्रह्म, ये दो ही वर्ग होते हैं। इससे यही प्रकट होता है कि इनमें से किसी एक वर्ग से अर्थात् कर्म से छुटकारा पाने की इच्छा हो तो मनुष्य को दूसरे वर्ग में अर्थात् ब्रह्म स्वरूप में प्रवेश करना चाहिये। इसके सिवा और कोई दूसरा मार्ग नहीं है। क्योंकि जब सब पदार्थों के केवल दो ही वर्ग होते हैं, तब कर्म से मुक्त अवस्था सिवा ब्रह्म स्वरूप के और कोई शेष नहीं रह जाती। परन्तु ब्रह्म स्वरूप की इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए स्पष्ट रूप से यह जान लेना चाहिये कि ब्रह्म का स्वरूप क्या है ? नहीं तो करने चलेंगे एक और होगा कुछ दूसरा ही। 'विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्' मूर्ति तो गणेश की बनानी थी, परन्तु (वह न बन कर) बन गई बंदर की। ठीक यही दशा होगी। इसलिए अध्यात्मशास्त्र के युक्तिवाद से भी यही सिद्ध होता है कि ब्रह्म स्वरूप का ज्ञान (अर्थात् ब्रह्मात्मैक्य का तथा ब्रह्म की अलिप्तता का ज्ञान) प्राप्त करके उसे मृत्युपर्यन्त स्थिर रखना ही कर्मपाश से मुक्त होने का सच्चा मार्ग है। गीता में

१—बृहदारण्यकोपनिषद १.४.१०

२—छान्दोग्योपनिषद् ४.१४.३

३—श्वेताश्वतरोपनिषद् ५.१३, ६.१३

४—ईशावास्योपनिषद् ११

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

भगवान ने भी यही कहा है कि कर्मों में मेरी कुछ भी ग्रासक्ति नहीं है, इसलिए मुझे कर्म की बाधा नहीं होती ग्रौर जो इस तत्त्व को समझ जाता है वह कर्मपाश से मुक्त हो जाता है।[1]

स्मरण रहे कि यहाँ 'ज्ञान' का अर्थ केवल शाब्दिक ज्ञान या केवल मानसिक क्रिया नहीं है, किन्तु वेदान्त सूत्र के शांकरभाष्य के आरम्भ ही में कहे ग्रनुसार हर समय ग्रौर प्रत्येक स्थान में उसका अर्थ "पहले मानसिक ज्ञान होने पर और फिर इन्द्रियों पर जय प्राप्त कर लेने पर ब्रह्मीभूत होने की ग्रवस्था या ब्राह्मी स्थिति ही है।" महाभारत में भी जनक ने सुलभा से कहा है कि "ज्ञानेन कुरुते यत्नं, यत्नेन प्राप्यते महत्"[2] ज्ञान ग्रर्थात् मानसिक क्रिया रूपी ज्ञान हो जाने पर मनुष्य यत्न करता है, ग्रौर यत्न के इस मार्ग से ही ग्रन्त में उसे महत्त्व (परमेश्वर) प्राप्त हो जाता है। अध्यात्मशास्त्र इतना ही बतला सकता है कि मोक्ष प्राप्ति के लिए किस मार्ग से ग्रौर कहाँ जाना चाहिए। इससे ग्रधिक वह ग्रौर कुछ नहीं बतला सकता। शास्त्र से ये बातें जानकर प्रत्येक मनुष्य को शास्त्रोक्त मार्ग पर स्वयं ही चलना चाहिए ग्रौर उस मार्ग में जो कांटे या बाधाएँ हों, उन्हें निकालकर ग्रपना रास्ता खुद साफ कर लेना चाहिये एवं उसी मार्ग पर चलते हुए स्वयं अपने प्रयत्न से ही ग्रन्त में ध्येयवस्तु की प्राप्ति कर लेनी चाहिए। परन्तु यह प्रयत्न भी पातंजलयोग, ग्रध्यात्मविचार, भक्ति, कर्मफल त्याग इत्यादि ग्रनेक प्रकार से किया जा सकता है और इस कारण मनुष्य बहुधा उलझन में फंस जाता है। इसलिए गीता में पहले निष्काम कर्मयोग का मुख्य मार्ग बतलाया गया है, ग्रौर उसकी सिद्धि के लिए छठे ग्रध्याय में यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-ध्यान-समाधि रूप अंगभूत साधनों का भी वर्णन किया गया है तथा सातवें ग्रध्याय से ग्रागे यह बतलाया है कि कर्मयोग का आचरण करते रहने से ही परमेश्वर का ज्ञान ग्रध्यात्म विचार द्वारा ग्रथवा (इससे भी सुलभ रीति से) भक्ति मार्ग द्वारा हो जाता है।[3]

कर्मबंध से छुटकारा पाने के लिए कर्म छोड़ देना कोई उचित मार्ग नहीं है किन्तु ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान से बुद्धि को शुद्ध रखकर परमेश्वर के समान आचरण करते रहने से ही ग्रन्त में मोक्ष मिलता है। कर्म को छोड़ देना भ्रम है, क्योंकि कर्म किसी से छूट नहीं सकता—इत्यादि बातें यद्यपि अब निर्विवाद सिद्ध हो गई हैं, तथापि यह पहला प्रश्न फिर भी उठता है, कि इस मार्ग में सफलता पाने के लिए ग्रावश्यक ज्ञान प्राप्ति का जो प्रयत्न करना पड़ता है, वह मनुष्य के वश की बात है ? अथवा नाम रूप कर्मात्मक प्रकृति जिधर खींचे, उधर ही उसे चले जाना चाहिए ? गीता में भगवान कहते हैं कि "प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः

१—गीता ४.१४

२—शांडिल्य सूत्र ३२०.३०

३—गीता १८.५६

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

किं करिष्यति ।" (गीता ३,३३) निग्रह से क्या होगा, प्राणिमात्र अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार ही चलते हैं । "मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्षयति" तेरा निश्चय व्यर्थ है । जिधर तू न चाहेगा, उधर तेरी प्रकृति तुझे खींच लेगी । (गीता १८, ५९, २, ६०) और मनुजी कहते हैं कि "बलवान इन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति" (मनु २.२१५) विद्वानों को भी इन्द्रियाँ अपने वश में कर लेती हैं । कर्म-विपाक प्रक्रिया का भी निष्कर्ष यही है । क्योंकि जब ऐसा मान लिया जाय कि मनुष्य के मन की सब प्रेरणाएँ पूर्व कर्मों से ही उत्पन्न होती हैं, तब तो यही अनुमान करना पड़ता है कि उसे एक कर्म से दूसरे कर्म में अर्थात् सदैव भव चक्र में ही रहना चाहिए । अधिक क्या कहें ? कर्म से छुटकारा पाने की प्रेरणा और कर्म, दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं । और यदि यह सत्य है तो यह आपत्ति आ पड़ती है कि ज्ञान प्राप्त करने के लिए कोई भी मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है ।

इस विषय का विचार अध्यात्मशास्त्र में इस प्रकार किया गया है कि नाम रूपात्मक सारी दृश्य सृष्टि का आधारभूत जो तत्त्व है वही मनुष्य की जड़ देह में भी आत्म रूप से निवास करता है, इससे मनुष्य के कृत्यों का विचार देह और आत्मा, दोनों की दृष्टि से करना चाहिए । इनमें से आत्मस्वरूपी ब्रह्म मूल में केवल एक ही होने के कारण कभी भी परतन्त्र नहीं हो सकता । क्योंकि किसी एक वस्तु को दूसरे की अधीनता में होने के लिए एक से अधिक कम-से-कम दो वस्तुओं का होना नितान्त आवश्यक है । यहाँ नाम-रूपात्मक कर्म ही वह दूसरी वस्तु है । परन्तु यह कर्म अनित्य है । और मूल में वह परब्रह्म की ही लीला है, जिससे निर्विवाद सिद्ध होता है कि यद्यपि उसने परब्रह्म के एक अंश को आच्छादित कर लिया है, तथापि वह परब्रह्म को अपना दास कभी भी बना नहीं सकता । इसके अतिरिक्त यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि जो आत्मा कर्म सृष्टि के व्यापारों का एकीकरण करके सृष्टिज्ञान उत्पन्न करता है, उसे कर्म सृष्टि से भिन्न अर्थात् ब्रह्मसृष्टि का ही होना चाहिए । इससे सिद्ध होता है कि परब्रह्म और वस्तुतः उसी का अंश जो शारीर आत्मा, दोनों मूलतः स्वतन्त्र अर्थात् कर्मात्मक प्रकृति की सत्ता से मुक्त हैं । इनमें से परमात्मा के विषय में मनुष्य को इससे अधिक ज्ञान नहीं हो सकता कि वह अनन्त, सर्वव्यापी, नित्य शुद्ध और मुक्त है । परन्तु इस परमात्मा ही के अंशरूप जीवात्मा की बात भिन्न है । यद्यपि वह मूल में शुद्ध, मुक्त स्वभाव, निर्गुण तथा अकर्ता है, तथापि शरीर और बुद्धि आदि इन्द्रियों के बंधन में फंसा होने के कारण वह मनुष्य के मन में जो स्फूर्ति उत्पन्न करता है, उसका प्रत्यक्षानुभव रूपी ज्ञान हमें हो सकता है । भाप का उदाहरण लीजिये । जब वह खुली जगह में रहती है तब उसका कुछ बल नहीं होता, परन्तु जब वह किसी बर्तन में बन्द कर दी जाती है तब उसका दबाव उसी बर्तन पर जोर से होता हुआ दीख पड़ने लगता है । ठीक इसी तरह जब

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

परमात्मा का ही अंशभूत जीव (गीता १५.७) अनादि पूर्व कर्मार्जित जड़ देह तथा इन्द्रियों के बंधनों से बद्ध हो जाता है, तब इस बद्धावस्था से उसको मुक्त करने के लिये (अर्थात् मोक्षानुकूल) कर्म करने की प्रवृत्ति देहेन्द्रियों में होने लगती है और इसीको व्यावहारिक दृष्टि से 'आत्मा की स्वतन्त्र प्रवृत्ति' कहते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से कहने का कारण यह है कि शुद्ध मुक्तावस्था में या तात्त्विक दृष्टि से आत्मा इच्छारहित तथा अकर्ता है और सब कर्तृत्व केवल प्रकृति का है (गीता १३.२६) परन्तु वेदान्ती लोग सांख्यमत की भांति यह नहीं मानते कि प्रकृति ही स्वयं मोक्षानुकूल कर्म किया करती है, क्योंकि ऐसा मान लेने से यह कहना पड़ेगा कि जड़ प्रकृति अपने अंधेपन से अज्ञानियों को भी मुक्त नहीं कर सकती है और यह भी नहीं कहा जा सकता कि जो आत्मा मूल ही में अकर्ता है, वह स्वतन्त्र रीति से—अर्थात् बिना किसी निमित्त के अपने नैसर्गिक गुणों से ही प्रवर्तक हो जाता है। इसलिए आत्म-स्वातन्त्र्य के उक्त सिद्धान्त को वेदान्तशास्त्र में इस प्रकार बतलाना पड़ता है कि आत्मा यद्यपि मूल में अकर्ता है तथापि बंधनों के निमित्त से वह उतने ही के लिए दिखाऊ प्रेरक बन जाता है और जब वह आगन्तुक प्रेरकता उसमें एक बार किसी भी निमित्त से आ जाती है तब वह कर्म के नियमों से भिन्न अर्थात् स्वतन्त्र ही रहती है। 'स्वतन्त्र' का अर्थ निर्निमित्तक नहीं है, और आत्मा अपनी मूल शुद्धावस्था में कर्ता भी नहीं रहता। परन्तु बार-बार इस लम्बी-चौड़ी कर्मकथा को बतलाते न रहकर इसी को संक्षेप में आत्मा की स्वतन्त्र प्रवृत्ति या प्रेरणा कहने की परिपाटी हो गई है। बन्धन में पड़ने के कारण आत्मा के द्वारा इन्द्रियों को मिलने वाली इस स्वतन्त्र प्रेरणा में और बाह्य सृष्टि के पदार्थों के संयोग से इन्द्रियों में उत्पन्न होने वाली प्रेरणा में बहुत भिन्नता है। खाना-पीना, चैन करना—ये सब इन्द्रियों की प्रेरणाएँ हैं और आत्मा की प्रेरणा मोक्षानुकूल कर्म करने के लिए हुआ करती है। पहली प्रेरणा केवल बाह्य अर्थात् कर्म सृष्टि की है। परन्तु दूसरी प्रेरणा आत्मा की अर्थात् ब्रह्म सृष्टि की है। और ये दोनों प्रेरणाएँ प्रायः परस्पर विरोधी हैं, जिससे इनके झगड़े में ही मनुष्य की सब आयु बीत जाती है। इनके झगड़े के समय जब मन में संदेह उत्पन्न होता है तब कर्म सृष्टि की प्रेरणा को न मानकर[1] यदि मनुष्य शुद्धात्मा की स्वतन्त्र प्रेरणा के अनुसार चलने लगे—और इसी को सच्चा आत्म-ज्ञान या आत्म निष्ठा कहते हैं—तो इसके सब व्यवहार स्वभावतः मोक्षानुकूल ही होंगे।

और अन्त में—विशुद्ध धर्मा शुद्धेन बुद्ध न च स बुद्धिमान्।
विमलात्मा च भवति समेत्य विमलात्मना।
स्वतंत्रश्च स्वतन्त्रेण स्वतंत्रत्वमवाप्नुते।[2]

१—श्रीमद्‌भागवत पुराण ११.१०.४

२—महाभारत, शांति पर्व ३०८, २७-३०

Jain Educationa International   For Personal and Private Use Only   www.jainelibrary.org

"यह जीवात्मा या शरीर आत्मा—जो मूल में स्वतन्त्र है—ऐसे परमात्मा में मिल जाता है, जो नित्य, शुद्ध, बुद्ध और स्वतन्त्र है।" ऊपर जो कहा गया है कि ज्ञान से मोक्ष मिलता है उसका यही अर्थ है। इसके विपरीत जब जड़ देहेंद्रियों के प्राकृत धर्म की अर्थात् कर्मसृष्टि की प्रेरणा की–प्रबलता हो जाती है तब मनुष्य की अधोगति होती है। शरीर में बन्धे हुए जीवात्मा में, देहेंद्रियों में मोक्षानुकूल कर्म करने की तथा ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान से मोक्ष प्राप्त कर लेने की, जो यह स्वतन्त्र शक्ति है, उसकी ओर ध्यान देकर ही भगवान् ने अर्जुन को आत्म स्वातंत्र्य अर्थात् स्वावलम्बन के तत्त्व का उपदेश किया है कि :—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥[1]

"मनुष्य को चाहिये कि वह अपना उद्धार आप ही करे। निराशा से वह अपनी अवनति आप ही न करे। क्योंकि प्रत्येक मनुष्य स्वयं अपना बंधु (हित-कारी) है, और स्वयं अपना शत्रु (नाशकर्ता) है और इस हेतु से योगवासिष्ठ में (यो. २ सर्ग ४–८) दैव का निराकरण करके पौरुष के महत्त्व का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। जो मनुष्य इस तत्त्व को पहचान कर आचरण किया करता है कि सब प्राणियों में एक ही आत्मा है, उसके इसी आचरण को सदाचरण या मोक्षानुकूल आचरण कहते हैं और बद्ध जीवात्मा का भी यही स्वतन्त्र धर्म है कि ऐसे आचरण की ओर देहेंद्रियों को प्रवृत्त किया करे। इसी धर्म के कारण दुराचारी मनुष्य का अन्तःकरण भी सदाचरण ही का पक्ष लिया करता है, जिससे उसे अपने किए हुए दुष्कर्मों का पश्चात्ताप होता है। आधिदैवत पक्ष के पंडित इसे सदसद्विवेक-बुद्धिरूपी देवता की स्वतन्त्र स्फूर्ति कहते हैं। परन्तु तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर विदित होता है कि बुद्धीन्द्रिय जड़ प्रकृति ही का विकार होने के कारण स्वयं अपनी ही प्रेरणा कर्म के नियम-बंधनों से मुक्त नहीं हो सकती, यह प्रेरणा उसे कर्म सृष्टि के बाहर के आत्मा से प्राप्त होती है। इसी प्रकार पश्चिमी पंडितों का "इच्छा स्वातन्त्र्य" शब्द भी वेदान्त की दृष्टि से ठीक नहीं है। क्योंकि इच्छा मन का धर्म है और बुद्धि तथा उसके साथ-साथ मन भी कर्मात्मक जड़ प्रकृति के अस्वयंवेद्य विकार हैं। इसलिए ये दोनों स्वयं ही कर्म के बन्धन से छूट नहीं सकते। अतएव वेदान्तशास्त्र का निश्चय है कि सच्चा स्वातन्त्र्य न तो बुद्धि का है और न मन का—वह केवल आत्मा का है। यह स्वातन्त्र्य न तो कोई आत्मा को देता है और न कोई उससे इसे छीन भी सकता है—स्वतन्त्र परमात्मा का अंश रूप जीवात्मा जब उपाधि के बन्धन में पड़ जाता है, तब वह स्वयं स्वतन्त्र रीति से, ऊपर कहे अनुसार बुद्धि तथा मन में प्रेरणा किया करता है। अन्तःकरण की इस प्रेरणा का अनादर करके यदि कोई बर्ताव करेगा तो तुकाराम महाराज के शब्दों में यही कहा

१—गीता ६.५

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

जा सकता है कि वह "स्वयं अपने ही पैरों में आप कुल्हाड़ी मारने को तैयार हुआ है" (तु. गा. ४४४८) भगवद्गीता में इसी तत्त्व का उल्लेख यों किया गया है। "न हिनस्त्यात्मनऽऽत्मानाम्" जो स्वयं अपना घात आप ही नहीं करता, उसे उत्तम गति मिलती है।[1] यद्यपि मनुष्य कर्मसृष्टि के अभेद्य दिखाई देने वाले नियमों में जकड़ कर बन्धा हुआ है तथापि स्वभावत: उसे ऐसा मालूम होता है कि मैं इस परिस्थिति में भी अमुक काम को स्वतन्त्र रीति से कर सकूँगा। अनुभव के इस तत्त्व की उत्पत्ति ऊपर कहे अनुसार ब्रह्मसृष्टि को जड़ सृष्टि से भिन्न माने बिना किसी भी अन्य रीति से नहीं बतलाई जा सकती। इसलिए जो अध्यात्मशास्त्र को नहीं मानते उन्हें इस विषय में या तो मनुष्य के नित्य दासत्व को मानना चाहिये या प्रवृत्ति स्वातन्त्र्य के प्रश्न को अगम्य समझकर यों ही छोड़ देना चाहिये। उनके लिए कोई दूसरा मार्ग नहीं है। अद्वैत वेदान्त का यह सिद्धान्त है कि जीवात्मा और परमात्मा मूल में एक रूप हैं और इसी सिद्धान्त के अनुसार प्रवृत्ति स्वातन्त्र्य या इच्छास्वातन्त्र्य की उक्त उत्पत्ति बतलाई गई है। परन्तु जिन्हें यह अद्वैत मत मान्य नहीं है अथवा जो भक्ति के लिये द्वैत को स्वीकार किया करते हैं उनका कथन है कि जीवात्मा की यह सामर्थ्य स्वयं उसकी नहीं है, बल्कि यह उसे परमेश्वर से प्राप्त होती है। तथापि 'न ऋतु श्रान्तस्य सख्याय देवा:।[2] थकने तक प्रयत्न करने वाले मनुष्य के अतिरिक्त अन्यों की देवता मदद नहीं करते—ऋग्वेद के इस तत्वानुसार यह कहा गया है, कि जीवात्मा को यह सामर्थ्य प्राप्त करा देने के लिए पहले स्वयं ही प्रयत्न करना चाहिए—अर्थात् आत्म प्रयत्न का या पर्याय से आत्म स्वातन्त्र्य का तत्त्व फिर भी स्थिर बना ही रहता है। अधिक क्या कहें ? बौद्धधर्मी लोग आत्मा का या परब्रह्म का अस्तित्व नहीं मानते और यद्यपि उनको ब्रह्मज्ञान तथा आत्मज्ञान मान्य नहीं है तथापि उनके धर्मग्रन्थों में भी यही उपदेश किया गया है कि "अत्तना (आत्मना) चोदयऽतान"—अपने आप को स्वयं अपने ही प्रयत्न से राह पर लगाना चाहिए। इस उपदेश का समर्थन करने के लिए कहा गया है कि :—

अत्ता (आत्मा) हि अत्तनो नाथो अत्ता हि अत्तना गति।
तस्मा संजमयऽत्ताणं अस्सं (अश्वं) भद्दं व वाणिजो ॥

"हम ही खुद अपने स्वामी या मालिक हैं और अपने आत्मा के सिवा हमें तारने वाला दूसरा कोई नहीं है, इसलिए जिस प्रकार कोई व्यापारी अपने उत्तम घोड़े का संयमन करता है उसी प्रकार हमें अपना संयमन आप ही भलीभांति करना चाहिए।"

◆ • •

१—गीता १३.२८
२—ऋग्वेद ४, ३३.११

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

कहती है। 'कर्म', 'विकर्म' व 'अकर्म' ये तीन शब्द बड़े महत्त्व के हैं। कर्म का अर्थ है—स्वधर्माचरण की बाहरी स्थूल क्रिया। इस बाहरी क्रिया में चित्त को लगाना ही 'विकर्म' है। बाहर से हम किसी को नमस्कार करते हैं, परन्तु उस बाहरी सिर झुकाने की क्रिया के साथ ही यदि भीतर से मन भी न झुकता हो तो बाह्य क्रिया व्यर्थ है। अन्तर्बाह्य—भीतर व बाहर दोनों एक होना चाहिये। बाहर से मैं शिव-पिंड पर सतत जल धारा छोड़कर अभिषेक करता हूँ परन्तु इस जल धारा के साथ ही यदि मानसिक चिन्तन की धारा भी अखण्ड न चलती रहती हो तो उस अभिषेक की क्या कीमत रही? ऐसी दशा में वह शिवपिंड भी पत्थर व मैं भी पत्थर ही। पत्थर के सामने पत्थर बैठा—यही उसका अर्थ होगा। निष्काम कर्मयोग तभी सिद्ध होता है जब हमारे बाह्य कर्म के साथ अंदर से चित्त-शुद्धि रूपी कर्म का भी संयोग हो।

'निष्काम कर्म' इस शब्द-प्रयोग में 'कर्म' पद की अपेक्षा 'निष्काम' पद को ही अधिक महत्त्व है, जिस तरह 'अहिंसात्मक असहयोग' शब्द प्रयोग में असहयोग की बनिस्पत 'अहिंसात्मक' विशेषण को ही अधिक महत्त्व है। अहिंसा को दूर हटाकर यदि केवल असहयोग का अवलंबन करेंगे, तो वह एक भयंकर चीज बन सकती है। उसी तरह स्वधर्माचरण रूपी कर्म करते हुए यदि मन का विकर्म उसमें नहीं जुड़ा है तो उसे धोखा समझना चाहिये।

आज जो लोग सार्वजनिक सेवा करते हैं, वे स्वधर्म का ही आचरण करते हैं। जब लोग, गरीब, कंगाल, दुःखी व मुसीबत में होते हैं तब उनकी सेवा करके उन्हें सुखी बनाना प्रवाह-प्राप्त धर्म है। परन्तु इससे यह अनुमान न कर लेना चाहिये कि जितने भी लोग सार्वजनिक सेवा करते हैं, वे सब कर्मयोगी हो गए हैं। लोक-सेवा करते हुए यदि मन में शुद्ध भावना न हो तो उस लोक-सेवा के भयानक होने की सम्भावना है। अपने कुटुम्ब की सेवा करते हुए जितना अहंकार, जितना द्वेष-मत्सर, जितना स्वार्थ आदि विकार हम उत्पन्न करते हैं, उतने सब लोक-सेवा में भी हम उत्पन्न करते हैं और इसका प्रत्यक्ष दर्शन हमें आजकल की लोक-सेवा मण्डलियों के जमघट में भी हो जाता है।

कर्म के साथ मन का मेल होना चाहिये। इस मन के मेल को ही गीता 'विकर्म' कहती है। बाहर का स्वधर्म रूप सामान्य कर्म और यह आन्तरिक विशेष कर्म। यह विशेष कर्म अपनी-अपनी मानसिक जरूरत के अनुसार जुदा-जुदा होता है। विकर्म के ऐसे अनेक प्रकार, नमूने के तौर पर बताये गये हैं। इस विशेष कर्म का, इस मानसिक अनुसन्धान का योग जब हम करेंगे, तभी उसमें निष्कामता की ज्योति जगेगी। कर्म के साथ जब विकर्म मिलता है तो फिर धीरे-धीरे निष्कामता हमारे अन्दर आती रहती है। यदि शरीर व मन जुदा-

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

जुदा चीजें हैं तो साधन भी दोनों के लिये जुदा-जुदा ही होंगे। जब इन दोनों का मेल बैठ जाता है तो साध्य हमारे हाथ लग जाता है। मन एक तरफ और शरीर दूसरी तरफ ऐसा न हो जाये, इसलिये शास्त्रकारों ने दुहरा मार्ग बताया है। भक्तियोग में बाहर से तप व भीतर से जप बताया है। उपवास आदि बाहरी तप के चलते हुए यदि भीतर से मानसिक जप न हो, तो वह सारा तप फिजूल गया। तप सम्बन्धी मेरी भावना सतत सुलगती, जगमगाती रहनी चाहिये। उपवास शब्द का अर्थ ही है, भगवान के पास बैठना। इसलिये कि परमात्मा के नजदीक हमारा चित्त रहे, बाहरी भोगों का दरवाजा बंद करने की जरूरत है। परन्तु बाहर से विषय भोगों को छोड़कर यदि मन में भगवान का चिन्तन न होता, तो फिर इस बाहरी उपवास की क्या कीमत रही ? ईश्वर का चिन्तन न करते हुए यदि उस समय खाने-पीने की चीजों का चिन्तन करें तो फिर वह बड़ा ही भयंकर भोजन हो गया। यह जो मन से भोजन हुआ, मन में जो विषय-चिन्तन रहा, इससे बढ़कर भयंकर वस्तु दूसरी नहीं। तंत्र के साथ मंत्र होना चाहिये। कोरे बाह्य तन्त्र का कोई महत्त्व नहीं है और न केवल कर्महीन मन्त्र का भी कोई मूल्य है। हाथ में भी सेवा हो व हृदय में भी सेवा हो, तभी सच्ची सेवा हमारे हाथों बन पड़ेगी।

यदि बाह्य कर्म में हृदय की आर्द्रता न रही, तो वह स्वधर्माचरण रूखा-सूखा रह जायेगा। उसमें निष्कामता रूपी फूल-फल नहीं लगेंगे। फर्ज कीजिये कि हमने किसी रोगी की सेवा-सुश्रूषा शुरू की, परन्तु उस सेवा-कर्म के साथ यदि मन में कोमल दया भाव न हो तो वह रुग्ण-सेवा नीरस मालूम होगी व उससे जी ऊब उठेगा। वह एक बोझ मालूम देगी। रोगी को भी वह सेवा एक बोझ मालूम पड़ेगी। उसमें यदि मन का सहयोग न हो तो उससे अहंकार पैदा होगा। मैंने आज उसका काम किया है। उसे जरूरत के वक्त मेरी सहायता करनी चाहिये। मेरी तारीफ करनी चाहिये। मेरा गौरव करना चाहिये आदि अपेक्षाएँ मन में उत्पन्न होंगी। अथवा हम त्रस्त होकर कहेंगे—हम इसकी इतनी सेवा करते हैं, फिर भी यह बड़बड़ाता रहता है। बीमार आदमी वैसे ही चिड़चिड़ा रहता है। उसके ऐसे स्वभाव से ऐसा सेवक, जिसके मन में सच्चा सेवा-भाव नहीं होता, ऊब जायेगा।

कर्म के साथ जब आन्तरिक भाव का मेल हो जाता है तो वह कर्म कुछ और ही हो जाता है। तेल और बत्ती के साथ जब ज्योति का मेल होता है, तब प्रकाश उत्पन्न होता है। कर्म के साथ विकर्म का मेल हुआ तो निष्कामता आती है। बारूद में बत्ती लगाने से धड़ाका होता है। उस बारूद में एक शक्ति उत्पन्न होती है। कर्म को बंदूक की बारूद की तरह समझो। उसमें विकर्म की बत्ती या आग लगी कि काम हुआ। जब तक विकर्म आकर नहीं मिलता, तब तक वह कर्म जड़ है, उसमें चैतन्य नहीं। एक बार जहाँ विकर्म की चिनगारी उसमें

Jain Educationa International   For Personal and Private Use Only   www.jainelibrary.org

गिरी कि फिर उस कर्म में जो सामर्थ्य पैदा होती है, वह अवर्णनीय है। चिमटी भर बारूद जेब में पड़ी रहती है, हाथ में उछलती रहती है, पर जहाँ उसमें बत्ती लगी कि शरीर के टुकड़े-टुकड़े हुए। स्वधर्माचरण का अनन्त सामर्थ्य इसी तरह गुप्त रहता है। उसमें विकर्म को जोड़िये तो फिर देखिये कि कैसे-कैसे बनाव-बिगाड़ होते हैं। उसके स्फोट से अहंकार, काम, क्रोध के प्राण उड़ जायेंगे व उसमें से उस परम ज्ञान की निष्पत्ति हो जायेगी।

कर्म ज्ञान का पलीता है। एक लकड़ी का बड़ा सा टुकड़ा कहीं पड़ा है। उसे आप जला दीजिये। वह जगमग अंगार हो जाता है। उस लकड़ी और उस आग में कितना अन्तर है? परन्तु उस लकड़ी की ही वह आग होती है। कर्म में विकर्म डाल देने से कर्म दिव्य दिखाई देने लगता है। माँ बच्चे की पीठ पर हाथ फेरती है। एक पीठ है, जिस पर एक हाथ यों ही इधर-उधर फिर गया। परन्तु इस एक मामूली कर्म से उन माँ-बच्चे के मन में जो भावनाएँ उठीं, उनका वर्णन कौन कर सकेगा? यदि कोई ऐसा समीकरण बिठाने लगेगा कि इतनी लम्बी-चौड़ी पीठ पर इतने वजन का एक मुलायम हाथ फिराइये, तो इससे वह आनंद उत्पन्न होगा, तो एक दिल्लगी ही होगी। हाथ फिराने की यह क्रिया बिलकुल क्षुद्र है परन्तु उसमें माँ का हृदय उंडेला हुआ है। वह विकर्म उंडेला हुआ है। इसी से वह अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है। तुलसीकृत रामायण में एक प्रसंग आता है। राक्षसों से लड़कर बन्दर आते हैं। वे जख्मी हो गए हैं। बदन से खून बह रहा है परन्तु प्रभु रामचन्द्र के एक बार प्रेम-पूर्वक दृष्टिपात मात्र से उन बन्दरों की वेदना काफूर हो गई। अब यदि दूसरे मनुष्य ने राम की उस समय की आँख व दृष्टि का फोटो लेकर किसी की ओर उतनी आँखें फाड़कर देखा होता तो क्या उसका वैसा प्रभाव पड़ा होता? वैसा करने का यत्न करना हास्यास्पद है।

कर्म के साथ जब विकर्म का जोड़ मिल जाता है तो शक्ति-स्फोट होता है और उसमें से अकर्म निर्माण होता है। लकड़ी जलने पर राख हो जाती है। पहले का वह इतना बड़ा लकड़ी का टुकड़ा, अंत में चिमटी भर बेचारी राख रह जाती है उसकी। खुशी से उसे हाथ में ले लीजिये और सारे बदन पर मल लीजिये। इस तरह कर्म में विकर्म की ज्योति जला देने से अन्त में अकर्म हो जाता है। कहाँ लकड़ी व कहाँ राख? क: केन सम्बन्ध:। उनके गुण-धर्मों में अब बिल्कुल साम्य नहीं रह गया। परन्तु इसमें कोई शक नहीं है कि वह राख उस लकड़ी के लट्ठ की ही है।

कर्म में विकर्म उंडेलने से अकर्म होता है। इसका अर्थ क्या? इसका अर्थ यह है कि ऐसा मालूम ही नहीं होता कि कोई कर्म किया है। उस कर्म का बोझ नहीं मालूम होता। करके भी अकर्त्ता होते हैं। गीता कहती है कि मारकर

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

भी तुम मारते नहीं। माँ बच्चे को पीटती है, इसलिये तुम तो उसे पीटकर देखो। तुम्हारी मार बच्चा नहीं सहेगा। माँ मारती है फिर भी वह उसके अांचल में मुँह छिपाता है, क्योंकि माँ के बाह्य कर्म में चित्त शुद्धि का मेल है। उसका यह मारना-पीटना निष्काम भाव से है। उस कर्म में उसका स्वार्थ नहीं है। विकर्म के कारण, मन की शुद्धि के कारण कर्म का कर्मत्व उड़ जाता है। राम की वह दृष्टि, आन्तरिक विकर्म के कारण महज प्रेम-सुधा सागर हो गई थी परन्तु राम को उस कर्म का कोई श्रम नहीं हुआ था। चित्त शुद्धि से क्रिया-कर्म निर्लेप रहता है। उसका पाप-पुण्य कुछ बाकी नहीं रहता। नहीं तो कर्म का कितना बोझ, कितना जोर हमारी बुद्धि व हृदय पर पड़ता है। यदि यह खबर आज दो बजे उड़ी कि कल ही सारे राजनैतिक कैदी छूट जाने वाले हैं तो फिर देखो, कैसी भीड़ चारों ओर हो जाती है। चारों ओर हलचल व गड़बड़ मच जाती है। हम कर्म के अच्छे-बुरे होने की वजह से मानो व्यग्र रहते हैं। कर्म हमको चारों ओर से घेर लेता है, मानो कर्म ने हमारी गर्दन धर दबाई है। जिस तरह समुद्र का प्रवाह जोर से जमीन में धंसकर खाड़ियाँ बना देता है उसी तरह कर्म का यह जंजाल चित्त में घुसकर क्षोभ पैदा करता है। सुख-दुःख के द्वन्द्व निर्माण होते हैं। सारी शान्ति नष्ट हो जाती है। कर्म हुआ और होकर चला भी गया। परन्तु उसका वेग बाकी बच ही रहता है। कर्म चित्त पर हावी हो जाता है। फिर उसकी नींद हराम हो जाती है।

परन्तु ऐसे इस कर्म में यदि विकर्म को मिला दिया तो फिर आप चाहे जितने कर्म करें तो भी उसका श्रम या बोझ नहीं मालूम होता। मन ध्रुव की तरह शान्त, स्थिर व तेजोमय बना रहता है। कर्म में विकर्म डाल देने से वह अकर्म हो जाता है। मानो कर्म को करके फिर उसे पोंछ दिया हो।

निज विवेक का प्रकाश मानव का अपना विधान है। उस विधान के आधीन बुद्धि, मन, इन्द्रिय, शरीर आदि को कर्म में लगाना है अथवा यों कहो कि कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्ति को शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि का उपयोग वर्तमान कर्त्तव्य-कर्म में ही विवेक के प्रकाश में करना है। निज विवेक का प्रकाश अविवेक का नाशक है। अविवेक के नष्ट होते ही अकर्त्तव्य शेष नहीं रहता, जिसके न रहने पर कर्त्तव्य पालन में स्वाभाविकता आ जाती है। इस दृष्टि से विवेकयुक्त मानव ही कर्त्तव्यनिष्ठ हो सकते हैं। अतः विवेक विरोधी कर्म का मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org